

THE ECONOMIC TIMES

Date: 04-11-16

There is no silver bullet to fight air pollution

As people inhale pollution rather than air in the national capital region, it is time to revisit the sufficiency and efficacy of administrative mechanisms and pollution abatement interventions. While it is important to impress on people the need to drastically cut down on Diwali firecrackers, there is a need to move away from an approach that focuses on a single polluting source. Satellite pictures reveal that crop burning in adjoining states is the major driver of the drastic drop in air quality in the national capital region. Large-scale trash-burning across the city is another factor.



Firecrackers burst during Diwali tipped the scale. Yet, the focus of the pre-Diwali anti-pollution drive was solely on firecrackers. This approach has to change. Pollution is not a single-source problem. Nor is the contribution of each source to pollution the same through the year. Institutionalising seasonal and regular pollution

apportionment studies, conducted by qualified institutions, should become a priority. More data will enable designing better solutions and result in innovation and policies that would minimise the production of pollutants. Improving air quality cannot be the responsibility of any single government or authority, nor can efforts to address air pollution be limited to one geographical or administrative jurisdiction. The central government together with states, local authorities and all relevant agencies have to work together. The citizenry must mobilise itself to spot and check the burning of trash, for example. Improving air quality cannot be a sporadic activity, triggered by a spike in the level of pollutants. Combating pollution calls for continuous effort, backed with strong environment regulation and adoption of practices that curb pollution at source. Conscious citizen action is a must.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 04-11-16

राज्यस्तरीय कारोबारी सुगमता

औद्योगिक नीति एवं संवर्धन विभाग (डीआईपीपी) ने देश में कारोबारी सुगमता की जो आंतरिक रैंकिंग तैयार की है वह बहुत अच्छे समय पर सामने आई है। गत सप्ताह ही विश्व बैंक ने भारत को 190 देशों की कारोबारी सुगमता सूची में 130वें स्थान पर रखा था। यानी पिछली रैंकिंग में केवल एक स्थान का सुधार। यह केंद्र सरकार के लिए खासी निराश करने वाली बात थी। परंतु राज्यवार सूची जिसे कारोबारी सुधार कार्य योजना का नाम दिया गया है और जिसे अंतरराष्ट्रीय रैंकिंग सिस्टम के आधार पर ही तैयार किया गया है, वह दिखाती है कि कई राज्यों ने जुलाई 2015 से जून 2016 के बीच उल्लेखनीय सुधार किया है। अब वे राज्य खुद को आदर्श निवेश केंद्र के रूप में प्रस्तुत कर पा रहे हैं। सितंबर 2015 में जारी पिछली रिपोर्ट में कोई राज्य सुधार एजेंडे का 75 फीसदी पूरा नहीं कर सका था। इस वर्ष 16 राज्य उस सीमा को पार करने में कामयाब रहे। बेहतर प्रदर्शन करने वाले राज्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। केवल एक साल में कई राज्यों ने छह प्रमुख सुधार बिंदुओं पर अच्छा प्रदर्शन किया: एकल खिड़की व्यवस्था, कर सुधार, निर्माण मंजूरी, पर्यावरण और श्रम सुधार, निगरानी सुधार और वाणिज्यिक विवाद एवं कम कागजी कार्रवाई वाली अदालतें। कई राज्यों ने एक संस्था ही गठित कर दी है जो राज्य स्तरीय नियामकीय और राजकोषीय प्रोत्साहन का

काम देखती हैं। इन्होंने कर सुधार की दिशा में अहम प्रगति की है। उत्तराखंड 23वें स्थान से नौवें स्थान पर आ गया है जबकि हरियाणा 14वें से छठे स्थान पर पहुंच गया है। लेकिन तेलंगाना जैसा सुधार किसी राज्य ने नहीं किया। वह वर्ष 2015 के 13वें स्थान से इस वर्ष सीधे शीर्ष पर पहुंच गया। इस क्रम में उसने गत वर्ष के शीर्षस्थ राज्य गुजरात को पीछे छोड़ दिया। लेकिन ऐसे राज्य भी हैं जिनकी हालत खस्ता हुई। ओडिशा इनमें प्रमुख है। वह सातवें स्थान से 11वें स्थान पर फिसल गया। झारखंड तीसरे स्थान से सातवें स्थान पर चला गया। सबसे बड़ी गिरावट तमिलनाडु की रही, वह गत वर्ष के 12वें स्थान से इस वर्ष 18वें स्थान पर चला गया। बिहार, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र जैसे सबसे अधिक आबादी वाले राज्यों का खराब प्रदर्शन चिंता का विषय बना हुआ है। उदाहरण के लिए बिहार 10 सुधार क्षेत्रों में से किसी में शीर्ष पांच में नहीं दिखा। डीआईपीपी ने इन 10 क्षेत्रों में 340 कार्य क्षेत्र तय किए थे। इन परिणामों से दो प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं। पहला, इससे केंद्र सरकार की इस बात को बल मिलता है कि विश्व बैंक की रैंकिंग में देश में हो रहे जमीनी सुधारों को कम करके आंका गया है। विश्व बैंक ने दिल्ली और मुंबई के रूप में दो शहरों को भारत के संकेतकों के रूप में इस्तेमाल किया। दिल्ली को अंतरराष्ट्रीय रैंकिंग में 19वां स्थान मिला जबकि मुंबई (जो महाराष्ट्र में है) बमुश्किल 10वें स्थान पर रहा। दूसरी बात कुछ अन्य राज्यों में सुधार की दर वाकई तेज है। संसाधन संपन्न छत्तीसगढ़ इस वर्ष चौथे स्थान पर रहा। गत वर्ष की रैंकिंग ने कई राज्यों को सुधार के लिए प्रेरित किया कि वे अहम सुधार लाएं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने प्रतिस्पर्धी सहयोग वाले संघ का उल्लेख किया था तो शायद उनका इशारा इसी ओर था कि जहां राज्यों में सुधार की होड़ हो। जहां वे अपने से बेहतर रैंकिंग वाले राज्यों की क्षमता हासिल करना चाहते हों। ऐसे में एक ऐसा मंच स्थापित करना बढ़िया होगा जहां पीछे रह गए राज्य सफल राज्यों से कुछ सबक सीख सकें।



Date: 03-11-16

मतदाता का हक

चुनावों में अगर किसी व्यक्ति ने अपनी शैक्षणिक योग्यता के बारे में कोई गलत जानकारी दी है तो उसकी उम्मीदवारी रद्द हो सकती है।

संसद या विधानमंडलों के चुनावों में उम्मीदवारों की शैक्षणिक योग्यता और डिग्री पर विवाद की स्थिति में पिछले काफी समय से उलझन कायम थी। अब इस मसले पर सुप्रीम कोर्ट ने जो व्यवस्था दी है, उससे एक तरह से यह साफ हो गया है कि चुनावों में अगर किसी व्यक्ति ने अपनी शैक्षणिक योग्यता के बारे में कोई गलत जानकारी दी है तो उसकी उम्मीदवारी रद्द हो सकती है। अदालत ने इस मामले में अपने फैसले में कहा है कि जनप्रतिनिधित्व कानून के प्रावधानों और फार्म 26 के तहत यह उम्मीदवार का कर्तव्य है कि वह अपनी शैक्षणिक योग्यता के बारे में सही जानकारी प्रदान करे। जाहिर है, इस नियम के बाद भी अगर किसी आवेदन या



दस्तावेज में गलत सूचना दर्ज की जाती है तो उसकी जिम्मेदारी उम्मीदवार पर ही आना स्वाभाविक है। यह इसलिए भी कि अगर कोई व्यक्ति विधायिका का हिस्सा होने जा रहा है तो उसे सबसे पहले अपने लिए तय किए गए नियम-कायदों के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिए और उस पर ईमानदारी से अमल करना वह खुद अनिवार्य मानता हो।

अब तक उम्मीदवारों की शैक्षणिक योग्यता जैसे मामलों पर सवाल उठाने वाले आमतौर पर प्रतिद्वंद्वी उम्मीदवार ही होते थे। इस लिहाज से देखें तो अदालत के ताजा फैसले का एक अहम पहलू यह है कि उसने उम्मीदवारों की शैक्षणिक योग्यता की जानकारी मांगने को मतदाताओं के मौलिक अधिकार के रूप में दर्ज किया है। यानी अगर कोई मतदाता उम्मीदवार की डिग्रियों के बारे में सूचना चाहता है तो उसे मुहैया कराना उम्मीदवार के लिए कानूनी बाध्यता होगी। ऐसे मामले अक्सर सामने आते रहे हैं जिसमें किसी व्यक्ति ने विधायिका में अपनी उम्मीदवारी के लिए आवेदन भरते हुए शैक्षणिक योग्यता के बारे में गलत सूचना दर्ज कर दी। ऐसी सूचना की तत्काल पुष्टि हो सके, इसकी व्यवस्था अब तक कमजोर रही है। इसलिए ऐसे लोग नामांकन, मतदान, चुनाव और जीत की प्रक्रिया को पार कर विधायिका का हिस्सा भी बन जाते हैं। मुश्किल तब सामने खड़ी होती है जब किसी तरह का शक होने पर विपक्ष से या कोई और उम्मीदवार जीत गए व्यक्ति की ओर से दी गई सूचना पर सवाल उठा देता है। कुछ समय पहले दिल्ली में आम आदमी पार्टी की सरकार में कानून मंत्री रहे जितेंद्र तोमर की स्नातक और कानून की डिग्रियों को लेकर विवाद खड़ा हुआ, तब स्वाभाविक ही यह सवाल उठा कि जो व्यक्ति गलत सूचना के आधार पर विधायक बन जाता है, वह एक स्वच्छ और ईमानदार शासन की कसौटी पर कितना खरा उतर सकेगा! इसके अलावा, हाल में मौजूदा केंद्र सरकार में मानव संसाधन विकास मंत्री रहें और अब कपड़ा मंत्री स्मृति ईरानी की ओर से भी अपनी डिग्रियों के बारे में गलत सूचना देने पर सवाल उठाते हुए अदालत में मामला पहुंचा था। शिकायत में आरोप लगाया गया था कि उन्होंने विभिन्न चुनाव लड़ने के लिए चुनाव आयोग में दाखिल हलफनामों में अपनी शैक्षणिक योग्यता के बारे में गलत सूचनाएं दीं। हालांकि दिल्ली की पटियाला हाउस कोर्ट ने देरी को आधार बना कर यह मामला खारिज कर दिया, लेकिन डिग्री के बारे में गलत जानकारी का सवाल बना रहा। इस लिहाज से देखें तो सुप्रीम कोर्ट ने अपने ताजा फैसले में इस मामले पर बनी धुंध साफ कर दी है। यों भी, कोई नागरिक चुनावों के दौरान उम्मीदवारों से ईमानदार होने के साथ-साथ अपने बारे में सही जानकारी सामने रखने की अपेक्षा करेगा। लेकिन अगर ऐसा नहीं होता है तो इससे न सिर्फ उस खास उम्मीदवार के प्रति भरोसा टूटता है, बल्कि इससे लोकतांत्रिक मूल्यों पर भी चोट पहुंचती है।



Date: 03-11-16

On parallel tracks

A Supreme Court judgment poses an old question to India's labour movement: how to unionise contract workers

In a significant judgment, the Supreme Court last week ruled that contract workers should get the same pay as permanent workers. It held that denial of equal pay for equal work to daily wagers, temporary, casual and contractual employees amounted to “exploitative enslavement, emerging out of a domineering position”. The court also made the philosophical point that denial of the principle of equal pay for equal work is a violation of human dignity.

Though the verdict came in the context of workers employed by the government, it strikes at the heart of the inequity that characterises the treatment of labour in both the public and private sector, whose defining characteristic is the division of workers into a two-tier caste system of regular and contract workers. In establishments across the country, an elite minority of permanent workers enjoy relative job security and higher wages, while the vast majority, comprising casual or contract workers, toil under terms where they can be terminated any time without reason, and get paid a fraction of what the regular workers get.



No change

It would therefore be natural to hope that the SC verdict would have an immediate, and positive, bearing on contract workers' compensation. Unfortunately, this is unlikely to happen, due to the third difference between permanent and contract workers: access to collective bargaining. As per the Trade Unions Act, 1926, any workman who works in a factory can join a union of that factory. But trade unions typically have only permanent workers as members. The reason cited is that contract workers are not employees of the employer in question (the manufacturing unit), and so should not find representation in a union body formed for the purpose of negotiating with the said employer. Contract workers are hired by the labour contractor, who is empanelled with the employer as a supplier of contract labour, and who pays their salaries.

But not being on the rolls of an employer does not disqualify a contract worker from being a member of a factory's union. Labour law experts point to section 2 (g) of the Trade Union Act, which defines "workmen", for the purposes of a trade union, as "all persons employed in trade or industry whether or not in the employment of the employer with whom the trade dispute arises". This question of who can become a member of a trade union also came up recently in the case of *Chander Bhan, etc versus Sunbeam Autoworkers Union* in the Gurgaon District Court. In a judgment that went largely unnoticed, the court ruled that any workman employed by a factory — irrespective of whether he was a permanent worker or not, fulfilled the Industrial Dispute (ID) Act's definition of workman or not — was eligible to participate in union activities.

In the Gurgaon industrial belt, Sunbeam Autoworkers Union is probably the only union that gives membership to workers with less than 240 days' service, and it needed a court intervention to be able to do so. But even it does not offer membership to contract workers. In fact, no union anywhere gives membership and voting rights to contract workers. The reasons are many. First, in an industrial climate extremely hostile to any union activity, workers believe that forming a union that also includes contract workers is bound to provoke the management into even greater hostility. Second, managements refuse point blank to discuss with unionists any issues concerning contract workers. Third, contract workers are far more insecure compared to regular workers. In an era where companies frequently terminate even a permanent worker for engaging in union mobilisation, the stakes are too high for contract workers, who could be summarily dismissed, without any consequences, by the management. Fourth, and this is an unpalatable truth for most trade unionists, permanent workers themselves don't want to extend union membership to contract workers. In a factory, say, that employs 300 permanent workers and 1,200 contract workers, any union that gives voting rights to contract workers would instantly marginalise permanent workers. Given that permanent workers' salaries are much higher, economic self-interest militates against the inclusion of contract workers in union membership. As a result, India's contract workers, with the exception of some PSUs in select sectors such as steel and coal, remain both heavily exploited and largely un-unionised, with the lack of unionisation and exploitation reinforcing each other. Ironically, it was the Contract Labour (Regulation and Abolition) Act, 1970 (CL Act), ostensibly enacted to abolish contract labour, that cemented their exploitation by offering a legal operating framework to labour contractors. Before this legislation, temporary workers and permanent workers could make claims on their employer and negotiate as members of the same union. But the CL Act, by introducing a distinction between an 'employer' and a 'principal employer', kept the door open for expansion of contractualisation.

Getting around the law

Contract labour was initially employed only for non-core work such as gardening, cleaning, and maintenance. Soon, they began to be increasingly employed in production as well. Workers protested. In response, the CL Act was enacted. It expressly prohibits the employment of contract labour for perennial work, that is, in core production. But labour contractors easily circumvent this requirement through what have come to be known as 'sham contracts'. It is a contract that may show a worker as having been hired for a cleaning job. But once he enters the factory premises, he is engaged in production work. There is no documentation to show that a contract worker who, on paper, is engaged for cleaning work, is actually in production. The SC judgment thus poses an old question to India's labour movement: how to unionise contract workers, who are in one factory today, in another the next, and whose interests are all too easily played off against those of permanent workers? Unless the labour movement comes up with an answer to this question, legislations and judicial pronouncements may not change things much on the ground.

G. SAMPATH sampath.g@thehindu.co.in

Date: 03-11-16

Green farms and clean air

The massive pollution cloud enveloping northern India every year is a good example of the disconnect between official policy and ground realities. It has been known for long that burning of agricultural waste in the northern States significantly contributes to the poor air quality in large parts of the Indo-Gangetic Basin, with local and cascading impacts felt from Punjab all the way to West Bengal. Harmful fine particulate matter measuring 2.5 mm in diameter (PM_{2.5}) is among the pollutants released. Punjab responded to the issue with a prohibition on the burning of paddy straw, and the launch of initiatives aimed at better utilisation of biomass, including as a fuel to produce power. Yet, there is no mission mode approach to the annual crisis. The efforts do not match the scale of agricultural residues produced, for one, and fail to address farmers' anxiety to remove the surplus from the fields quickly to make way for the next crop. The national production of crop waste is of the order of 500 million tonnes a year, with Uttar Pradesh, Punjab and West Bengal topping the list. Again, 80 per cent of straw from paddy is burnt in some States, impacting air quality and depriving croplands of nutrients.

It is an irony that the national capital and several other cities suffer crippling pollution in the post-monsoon and winter months partly due to biomass burning, when demand for fodder is rising and the surplus material could be used productively. Pilot projects to produce power using biomass demonstrated in Rajasthan, and mechanised composting and biogas production units of the Indian Agricultural Research Institute could be scaled up, and farmers given liberal support to deploy such solutions. Given the twin benefits of pollution abatement and better productivity, conservation agriculture needs to be popularised. This would encourage farmers to use newer low-till seeding technologies that allow much of the crop residues to remain on site, and curb the release of a variety of pollutants. Burning residues add greenhouse gases that cause global warming, besides pollutants such as carbon monoxide, ammonia, nitrous oxide and sulphur dioxide that severely affect human health. Sustained work is called for, given that higher agricultural productivity to meet food needs is inevitable, with a cascading increase in biomass volumes. The challenge is to identify measures to utilise it. By one estimate, if India can reach its own air quality standards for fine particulate matter from all sources, annual premature deaths can be cut by almost 10 per cent. A programme to cut pollution from waste-burning would be a good start.

विकास भी चाहिए और रोजगार भी

पिछला एक वर्ष भारत के लिए उथल-पुथल भरा रहा है। अपनी संप्रभुता, सीमाओं की सुरक्षा के साथ-साथ राष्ट्रवाद की आक्रामक अभिव्यक्तियों से उसे जूझना पड़ा है। वहीं, इस क्षेत्र की भू-राजनीति अब भी अनिश्चित और अस्थिर बनी हुई है। चीन की विकास दर घट रही है, लिहाजा अपने आर्थिक रसूख को कायम रखने के लिए वह नए-नए तरीके अपना रहा है। दक्षिण चीन सागर विवाद पर ट्रिब्यूनल के फैसले को न मानता, 'वन बेल्ट वन रोड' (सिल्क रोड आर्थिक गलियारा और 21वीं सदी के समुद्री सिल्क रोड) पर तेजी से आगे बढ़ना और तिब्बत से निकलने वाली नदियों के पानी के रुख में तब्दीली से जुड़ी खबरें उसकी इन्हीं कोशिशों के चंद उदाहरण हैं।

वह पारंपरिक रूप से भारत का सहयोगी माने जाने वाले रूस के साथ भी दोस्ती की नई पीढ़ी बढ़ा रहा है, और पाकिस्तान के साथ उसकी कदमताल जारी है ही। इससे निश्चय ही इस क्षेत्र की भू-राजनीति और जटिल बनने वाली है। उधर अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव के नतीजे को लेकर तस्वीर भले ही साफ दिखती हो, मगर नए अमेरिकी मुखिया के साथ चीन की विदेश नीति की दिशा क्या होगी, इस पर अब तक भ्रम की चादर पड़ी है। मगर हां, इस तस्वीर के बीच भी भारत ने कई मोर्चों पर उल्लेखनीय प्रगति की है।

हमारी पहली प्रगति विदेश नीति के मोर्चे पर हुई है। हाल के वर्षों में रणनीतिक तौर पर हम अमेरिका से इतने करीब कभी नहीं रहे, जितने अभी हैं। साथ ही, अफ्रीका, लातीन अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड तक भी हमारी पहुंच मजबूत हुई है। देश-दुनिया में मोदी के नेतृत्व को व्यापक रूप से मान्यता मिली है। दूसरी सफलता आर्थिक मोर्चे पर है। मामूली मुद्रास्फीति के साथ हमारी अर्थव्यवस्था 7.4 फीसदी की दर से कुलांचे भर रही है। चालू खाते का घाटा स्थिर है और अधिक उदार मौद्रिक नीति की ओर भी हमने कदम बढ़ाया है। विश्व में सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था हमारा एक सकारात्मक पक्ष है ही।

मगर भारत में निजी निवेश की रफ्तार अब भी सुस्त है। हालांकि बैंकों के संचित कोष पर पाबंदियों को हटाकर और इन्फ्रास्ट्रक्चर में बड़े पैमाने पर निवेश करके निजी निवेश को गति देने की कोशिश की जा रही है, मगर इन कोशिशों का लाभ मिलने में वक्त लगेगा। हमने राजनीतिक मोर्चे पर भी खूब प्रगति की है। भाजपा इससे पहले इतनी मजबूत कभी नहीं रही, जितनी कि पिछले एक वर्ष में रही है। इसके खाते में कई राज्य सरकारें आई हैं और कई क्षेत्रीय पार्टियों ने भी इसका दामन थामा है। हालांकि इससे ऐतराज नहीं कि अब भी काफी कुछ उत्तर प्रदेश, पंजाब और गुजरात के विधानसभा चुनावों पर निर्भर करेगा।

इन तमाम क्षेत्रों के अलावा मैं यहां दो अन्य संदर्भों की चर्चा करना चाहूंगा, जिसमें पहला विश्व बैंक से जुड़ा है। विश्व बैंक हर वर्ष 'ईज ऑफ डूइंग बिजनेस' यानी कारोबारी माहौल को लेकर दुनिया के तमाम देशों की रैंकिंग जारी करता है। यह सूची एक तरह से निवेश के माहौल और संभावित विकास के अनुमान का खाका होती है। हालिया सूची में हमारी स्थिति में पिछले वर्ष के मुकाबले बहुत मामूली सुधार हुआ है और महज एक पायदान ऊपर चढ़कर हम 130वें स्थान पर पहुंचे हैं। यह मोदी सरकार के उन वादों से कोसों दूर है, जिसमें भारत को शीर्ष 50 देशों में शुमार किए जाने की बात कही गई थी।

बेशक इस सूची के गुणा-भाग के तरीके पर सवाल उठाया जा सकता है, मगर कुछ मामलों में हमारी गति वाकई निराशाजनक है। कारोबार को शुरू करने, निर्माण-कार्यों की अनुमति लेने, कर्ज मिलने और दिवालियेपन का समाधान निकालने में हम उम्मीद के मुताबिक काम नहीं कर सके

हैं। जाहिर है, इस संदर्भ में छोटे से छोटे फैसले लेने और केंद्र और राज्यों के बीच नीतिगत मामलों में सामंजस्य बनाने की दरकार है। हमें अपनी गति दोगुनी करनी होगी, तभी इस सूची में हम अपना प्रदर्शन बेहतर कर सकते हैं। मेरा मानना है कि नीति आयोग के उपाध्यक्ष के नेतृत्व में नीति आयोग, औद्योगिक नीति व संवर्धन विभाग (डीआईपीपी) और वित्त मंत्रालय का एक संयुक्त कार्य समूह बनाया जा सकता है, जो इस दिशा में काम करे।

मेरा मानना है कि मोदी सरकार द्वारा उठाए गए कदमों से मिले फायदे को हमें यूं ही जाया नहीं होने देना चाहिए। दूसरा संदर्भ नई नौकरियों के सृजन से जुड़ा है। मैं हाल ही में एक टीवी-डिबेट में शामिल हुआ था, जहां सभी की यही राय थी कि अगर हर महीने दस लाख नौकरियां पैदा करनी हैं, तो हमें नई रणनीति अपनानी ही होगी। रणनीति की इसलिए भी दरकार है, क्योंकि प्रौद्योगिकी में बदलाव, डिजिटल प्लेटफॉर्म, इंटरनेट के विस्तार और चौथी औद्योगिक क्रांति की वजह से नौकरियां जितनी तेजी से खत्म हो रही हैं, उतनी तेजी से पैदा नहीं हो रहीं। विश्व बैंक का अनुमान है कि विध्वंसकारी तकनीकी बदलाव के कारण करीब 68 फीसदी भारतीयों की नौकरियां खतरे में हैं।

बेशक तकनीकी समावेशन को रोककर हम खुद को स्पर्धा से बाहर नहीं कर सकते। मगर जिन तकनीकों का चरित्र श्रमिकों का विस्थापन है, उसे लेकर नए दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत है। चीन का उदाहरण हमारे सामने है, जहां मजदूरी की दरों में उल्लेखनीय इजाफा होने के कारण श्रम-प्रधान उद्योग विकल्प के रूप में देखे जाने लगे हैं। भारत में भी कपड़ा, रत्न व आभूषण, चमड़ा, हार्डवेयर, इलेक्ट्रॉनिक्स जैसे श्रम-प्रधान उद्योगों को लेकर काम किए जाने की जरूरत है। नीति आयोग ने कुछ कदम जरूर उठाए हैं, मगर श्रम कानूनों (जो अब राज्य के अधिकार-क्षेत्र में हैं), भूमि अधिग्रहण की मंजूरी और अन्य नीतिगत बदलावों पर जल्दी से जल्दी काम नहीं किया गया, तो हम यह अवसर गंवा सकते हैं। मजहज यह मान लेना कि हमारी पहल ही पर्याप्त नौकरियां पैदा करने के लिए काफी होगी, इस मामले को सतही तौर पर देखना होगा। स्किल इंडिया कार्यक्रम को अगर अत्याधुनिक बनाना है, तो हमें 21वीं सदी के अनुकूल शिक्षा और कौशल को बढ़ावा देना होगा। इससे जुड़े कार्यक्रमों में सुधार करने होंगे। इसके साथ, सामाजिक क्षेत्रों की नीतियों को भी इसके अनुकूल बनाना होगा। अगर हम ऐसा करने में सफल रहे, तो यकीन मानिए कि नौकरी के हिसाब से यह न सिर्फ ग्रामीण भारत के लिए, बल्कि तकनीक में बदलाव के कारण 'बेरोजगार' होने वाले भारत के लिए भी काफी सुखद रहेगा। यह दौर सचमुच खत्म होना चाहिए, जिसमें विकास तो हो रहा है, मगर बेरोजगारी भी है। यह तभी संभव है, जब रोजगार का लगातार सृजन हो और विकास-दर सतत गति से आगे बढ़े। जाहिर है, भारत अभी बदलाव के चौराहे पर है।

एन के सिंह, पूर्व सांसद और पूर्व केंद्रीय सचिव (ये लेखक के अपने विचार हैं)
